# जैनधर्म और उसके सिद्धान्त

भारतवर्ष की प्राचीनतम संस्कृतियों में श्रमण संस्कृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण योग रहा है। विभिन्न देश और कालों में यह विशिष्ट नामों से व्यवहृत रही है। यद्यपि इतिहास के विद्वान् तथा मनीषी इसकी प्राचीनता लगभग तीन सहस्र वर्ष ही स्वीकार करते हैं किन्तु वैदिक साहित्य, जैन आगम साहित्य तथा अन्य देशों के साहित्य एवं परम्परा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग के पूर्व आर्हत संस्कृति का प्रसार भली-भांति इस देश में व्याप्त था। वेदों में हमें जिस यज्ञपरायण संस्कृति के दर्शन होते हैं वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्म की प्राप्ति के लिए यजन-कर्म को परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। परन्तु इस मान्यता का वेद-काल में और उसके बाद भी घोर विरोध हुआ। वैदिक काल के पहले से ही ब्राह्मण संस्कृति तथा सृष्टिकर्तृत्व विरोधी व्रात्य तथा साध्य श्रेणी के लोग आर्हत संस्कृति के प्रसारक थे। ये ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते थे। इनका विश्वास था कि सृष्टि प्रकृति के नियमों से बनी है। प्रकृति के नियमों को भली भांति ज्ञात कर मनुष्य भी नये संसार की रचना कर सकता है। मनुष्य की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति है। वह समस्त शक्तियों में श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि साध्यों ने सरस्वती और सिन्धु के संगम पर विज्ञान भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। उस विज्ञान भवन में बैठ कर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था [1]। आर्हत लोग कर्म में विश्वास रखते थे। और यही उनके सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को न मानने का मूल कारण था। आर्हत लोग मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति की भांति वे धार्मिक प्रवृत्तियों में विशेष रुचि रखते थे और समय पड़ने पर वे वाद-विवादों में भी भाग लेते थे। आर्हत् "अर्हत्" के उपासक थे। उनके देवस्थान पृथक् थे और पूजा अवैदिक थी। इस आर्हत परम्परा की पुष्टि "श्रीमद्भागवत", पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थों से होती है। इसमें जैनधर्म की उत्पत्ति के संबंध में भी अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं [2]। यथार्थ में आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदों, उपनिषदों, तथा पुराण-साहित्य में यत्किंचित् परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से झिलमिलाती हुई लक्षित होती है। निश्चय ही तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैनधर्म के लिए "आर्हत" शब्द ही प्रचलित था। बौद्ध पालि ग्रन्थों में तथा अशोक के शिलालेखों में "निग्गंठ" शब्द का प्रयोग मिलता है। निग्गंठ या निर्ग्रन्थ शब्द जैनों

---

१ देखिए, देवदत्त शास्त्री द्वारा लिखित–चिन्तन के नये चरण, पृ० ६८।

२ श्री मद्भागवत ५।३।२०, पद्मपुराण १३।३५०, विष्णुपुराण ३।१७–१८ अ०, स्कन्दपुराण–३६-३७-३८ अ० और शिवपुराण ५।४-५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है–भीतरी (काम, क्रोध, मोह आदि) और बाहरी (कौपीन, वस्त्रादि) परिग्रह से रहित श्रमण साधु। इण्डो–ग्रीक और इण्डो–सीथियन के समय में यह धर्म "श्रमण–धर्म के नाम से प्रचलित था। मेगस्थनीज ने मुख्य रूप से ब्राह्मण और श्रमण दार्शनिकों का उल्लेख किया है।[3]

पिछले दो दशकों में जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में कई प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनसे पता चलता है कि वेदों के युग में और उसके पूर्व जैनधर्म इस देश में प्रचलित था। वैदिक काल में यह 'आर्हत' धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। आर्हत लोग "अर्हत" के उपासक थे। वे वेद और ब्राह्मणों को नहीं मानते थे। वेद और ब्राह्मणों को मानने वाले तथा यज्ञ-कर्म करने वाले "बार्हत" कहे जाते थे। बार्हत "बृहती" के भक्त थे। बृहती वेद को कहते थे। वैदिक यजन-कर्म को ही वे सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वेदों में कई स्थानों पर आर्हत और बार्हत लोगों का उल्लेख हुआ है तथा "अर्हन्" को विश्व की रक्षा करने वाला एवं श्रेष्ठ कहा गया है।[4] शतपथब्राह्मण में अर्हन् का आह्वन किया गया है और कई स्थानों पर उन्हें श्रेष्ठ कहा गया है[5]। यद्यपि ऋषभ और वृषभ शब्दों का वैदिक साहित्य में कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है पर ब्राह्मण साहित्य में वे भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं उनका अर्थ बैल या सांड है तो कहीं मेघ और अग्नि तथा कहीं विश्वामित्र के पुत्र और कहीं बलदायक एवं कहीं शिक्षकों के राजा भी है। अधिकतर स्थलों में "वृषभ" को कामनापूरक एवं कामनाओं की वर्षा करने वाला कहा गया है। सायण के अनुसार "वृषभ" का अर्थ कामनाओं की वर्षा करने वाला तथा 'अर्हन्' का अर्थ योग्य है। किन्तु ऋग्वेद में दो स्थलों पर स्पष्ट रूप से "वृषभ" परमात्मा के रूप में वर्णित हैं। ऋग्वेद में वृषभ को कहीं-कहीं रुद्र के तुल्य और कहीं-कहीं अग्नि के सन्दर्भ में वर्णित किया गया है।[6] इसी प्रकार "अरिष्टनेमि" का अर्थ हानि रहित नेमि वाला, त्रिपुरवासी असुर, पुरुजित्सुत और औतों का पिता कहा गया है। किन्तु शतपथब्राह्मण में अरिष्ट का अर्थ अहिंसक है और "अरिष्टनेमि" का अर्थ अहिंसा की धुरी अर्थात् अहिंसा के प्रवर्तक है। अर्हन्, वृषभ और ऋषभ को वैदिक साहित्य में प्रशस्त कहा गया है। वृष को धर्मरूप ही माना गया है। जैनागमों में ऋषभदेव धर्म के आदि प्रवर्तक कहे गये हैं। अन्य देश-विदेशों की मान्यताओं एवं उनकी आचार विचार पद्धति से इस की पुष्टि होती है। कहीं यह वृषभ "धर्म-ध्वज" के रूप में, कहीं कृषिदेवता के रूप में और कहीं "वृषभध्वज" के रूप में पूजे जाते हैं। कहीं यह आदिनाथ है तो कही आदि धर्मप्रवर्तक और कहीं परमपुरुष के रूप में वर्णित हैं। बृहस्पति की भांति अरिष्टनेमि की भी संस्तुति की गई है[7]।

---

३ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्काइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड अर्रयन, पृ० ९७–९८।

४ ऋग्वेद २।३३।१०, २।३।१,३, ७।१८।२२, १०।२।२,९९. ७।
तथा–१०।८५।४, ऐआ० ५।२।२, शां १५।४, १८।२,२३।१, ऐ० ४।१०

५ ३।४।१।३–६, तै० २।८।६।९, तैआ० ४।५।७, ५।४।१० आदि।

६ ऋग्वेद ४।५८।३, ४।५।१, १०।१६६।१

७ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा : स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।

–ऋग्वेद १।८९।६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिक युग में पणि और व्रात्य आर्हत धर्म को मानने वाले थे। पणि भारतवर्ष के आदि व्यापारी थे। वे अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। धन में ही नहीं ज्ञान में भी बढ़े-चढे थे। इसलिए यज्ञपरायण संस्कृति को नहीं मानते थे। वे ब्राह्मणों को हवि, दक्षिणा-दान नहीं देते थे। देश का लगभग सभी व्यापार उनके हाथों में था। वे कारवां बनाकर अरब और उत्तरी अफ्रीका को जाते थे। बाद में चीन तथा अन्य देशों से भी पणि लोगों ने व्यापारिक संबंध स्थापित कर लिये थे। पणि या पणिक ही आगे चल कर वणिक् बन गये जो आज बनिया रूप में जाने जाते हैं।

व्रात्य आर्य तथा क्षत्रिय थे। इन्हें अब्राह्मण-क्षत्रिय कहा गया है। ये ब्रह्म-ब्राह्मण तथा यज्ञ-विधान आदि को नहीं मानते थे। किन्हीं विद्वानों के अनुसार ये दलित और हीनवर्ग के थे-यह ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पंचविंशब्राह्मण में (१७-१) में व्रात्यों के लिए यज्ञ का विधान किया गया है। वस्तुतः व्रात्य लोग व्रतों को मानते थे। अर्हन्तों (सन्तों) की उपासना करते थे और प्राकृत बोलते थे। उनके सन्त और योद्धा ब्राह्मण सूत्रों के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे।[८] अथर्ववेद में "व्रात्य" का अर्थ घूमने वाला साधु है। व्रात्यकाण्ड में पूर्ण ब्रह्मचारी को "व्रात्य" कहा गया है।[९] इससे भी व्रतों की पूजा करने वालों की पुष्टि होती है। अथर्ववेद में व्रात्य की भांति "महावृष" भी एक जाति कही गई है।[१०] महावृष लोग आर्य जाति के कहे गये हैं। जो भी हो, इससे यह पता लग जाता है कि वैदिक काल में ब्राह्मणविरोधी जातियां भी थीं जो प्राकृतिक नियमों से सृष्टि का वर्तन-प्रवर्तन मानती थीं। वस्तुतः यह अध्यात्मवादी परम्परा थी जो आत्मा को सर्वश्रेष्ठ मानती थी और यह कहती थी कि जब आत्मा ही सर्वोपरि है तो अलग से ब्रह्म या ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता रह जाती है? यद्यपि वैदिक युग में ब्राह्मण जाति की प्रधानता थी पर उस समय साध्यों का पूरे समाज पर पूर्ण प्रभाव और नियन्त्रण कहा जाता है। प्राग्वैदिक साध्यों को देवद्रोही कहा जाता था। ये संसार की रचना प्राकृतिक नियमों से मानते थे।[११] परन्तु प्रत्येक युग-युग में समय-समय पर संघर्ष हुए और उस संघर्ष का परिणाम ब्रह्मवाद की स्थापना में परिलक्षित हुआ।[१२] ज्यों-ज्यों युग पलटते गये, त्यों-त्यों यह अन्तर अधिक बढ़ता गया और विभिन्न सम्प्रदाय एवं धार्मिक विचार-क्रान्तियों का जन्म तथा विकास होता गया। इस प्रकार यह एक ही परम्परा विभिन्न केन्द्रों में विकासशील रही है और सामाजिक तथा राजनैतिक कारणों से इसके विविध रूप कहे जा सकते हैं। परन्तु आर्हत और बार्हत दोनों ही एक परम्परा के दो प्रारंभिक मुख्य केन्द्र-बिन्दु हैं जिनके चिन्ह आज भी परिलक्षित होते हैं।

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में आर्हत धर्म एवं श्रमण संस्कृति का महत्वपूर्ण योग रहा है। सहस्र शताब्दियों से प्रचलित इस धर्म और संस्कृति ने देश-विदेशों के हार्द को प्रभावित किया है जिसके चिन्ह आज भी विविध रूपों में लक्षित होते हैं। सहस्रों वर्षों से भारत और बेबीलोन, ईरान, एजटिक, अफ्रीका आदि देशों से व्यावसायिक और सांस्कृतिक संबन्ध बने हुए हैं। इन देशों में धर्म और

---

८. मैक्डानल और कीथ : वैदिक इण्डेक्स, दूसरी जिल्द, १९५८, पृ० ३४३।
९ सूर्यकान्त : वैदिक कोश, वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३
१० अथर्ववेद ५-२२, ४-५. ८।
११ देवदत्त शास्त्री : चिन्तन के नये चरण, पृ० ९७-९८।
१२ वही, पृ० ९९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृति का प्रचार करने वाले अधिकतर श्रमण साधु और बौद्ध भिक्षु थे। मैगस्थनीज ने अपनी भारत-यात्रा के समय में दो प्रकार के दार्शनिकों का उल्लेख किया है। ब्राह्मण और श्रमण उस युग के प्रमुख दार्शनिक थे।[१३] उस युग में श्रमणों को बहुत आदर दिया जाता था। कालब्रुक ने जैन सम्प्रदाय पर विचार करते हुए मैगस्थनीज द्वारा उल्लिखित श्रमण सम्बन्धी अनुच्छेद को उद्धृत किया है और बताया है कि जिन और बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्तों की तुलना में अन्धविश्वासी हिन्दू लोगों का धर्म और संस्थान आधुनिक है।[१४] मैगस्थनीज ने श्रमणों के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है उसमें कहा गया है कि वे वन में रहते थे। सभी प्रकार के व्यसनों से अलग थे। राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवता की भांति उनकी स्तुति एवं पूजा करते थे।[१५] रामायण में उल्लिखित श्रमणों से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। टीकाकार भूषण ने श्रमणों को दिगम्बर कहा है।[१६] सम्भव है कि उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों प्रकार के साधु रहते हों और वस्त्र के रूप में वल्कल परिधानों को धारण करते हों, जैसा कि मैगस्थनीज ने लिखा है। ब्राह्मण साहित्य में भी श्रमणों का उल्लेख मिलता है।[१७] किन्तु इस पर अधिकतर विद्वान मौन हैं।

रामायण की टीका में जिन वातवसन मुनियों का उल्लेख किया गया है वे ऋग्वेद में वर्णित वातरशन मुनि ही ज्ञात होते हैं। उनका विवरण उक्त वर्णन से मेल भी खाता है।[१८] केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के थे।[१९] वातरशन मुनि उत्कृष्ट कोटि के मुनि थे जो निर्ग्रन्थ साधु थे। ज्ञान, ध्यान और तप में वे सबसे बड़े माने जाते थे। श्री बाहुबलि ने भी इसी प्रकार की तपश्चर्या की थी। तप ही इनकी एक मात्र चर्या रह जाती थी। ब्राह्मण साहित्य में—मुख्य रूप से तैत्तिरीय आरण्यक में इनका विस्तृत उल्लेख मिलता है। कई स्थलों पर इनकी स्तुति की गई है।[२०] इस प्रकार जैनधर्म आर्हत और श्रमण नाम से प्राचीन काल में प्रचलित रहा है। अर्हन् के उपासक आर्हत कहे गये हैं जो आगे चलकर जिन के अनुयायी जैन हो गये। किन्तु यह श्रमण शब्द बराबर प्रचलित रहा है और महावीर को श्रमण होते देख कर बुद्ध को मानने वाले गौतमबुद्ध को "महा-

---

१३ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, १९२६,

१४ वही, पृ० १०१–१०२। पृ० ९७–९८।

१५ ट्रान्सलेशन आव द फ्रेग्मेन्ट्स आव द इण्डिका आव मेगस्थनीज, बान, १८४६, पृ० १०५।

१६ "नाथवन्तः" दासा : शूद्रादय इति यावत् श्रमणाः दिगम्बराः "श्रमणा वातावसना" इति निघण्टुः। यद्वा "चतुर्थमाश्रमं प्राप्ता : श्रमणा नाम ते स्मृता :" इति स्मृतिः "।
—गोविन्दराजीयरामायणभूषण।

१७ श० १४।७।१।२२, तैआ० २।७।१

१८ "वातरशनाः वातारशनस्य पुत्राः मुनयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूतिप्रभृतय : पिशंगा पिशंगानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कलरूपाणि वासांसि वसते आच्छादयन्ति।"
—सायण भाष्य, १०।१३६।२

१९ वहीं, १०।१३५।७

२० तैआ० १।२१।३, २३।२, २४।४, ३१।२७. १।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण" कहने लगे।[२१] परन्तु जैन परम्परा में "श्रमण" शब्द अपने मूल रूप में आज तक सुरक्षित है।[२२] वस्तुतः ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि श्रमणों की अपनी परम्परा रही है जो पुराणकाल तक और तब से अब तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित है। श्री मद्भागवत में मेरुदेवी (मरुदेवी) तथा नाभि राजा के पुत्र भगवान् ऋषभदेव वातरशन श्रमणों के धर्मप्रवर्तक कहे गये हैं।[२३] और उन्हें "योगेश्वर" कहा गया है।[२४] इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी आर्हत धर्म का उल्लेख मिलता है जिसे कहीं-कहीं जैनधर्म कहा गया है। पदमपुराण, विष्णु पुराण, स्कन्द और शिव पुराणों से आर्हत परम्परा की पुष्टि होती है। इन पुराणों में जैनधर्म की उत्पत्ति तथा विकास के संबंध में कई आख्यान भी मिलते हैं। मत्स्य-पुराण में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि जिनधर्म वेदबाह्य है जो वेदों को नहीं मानता[२५]। इससे यह तो पता लग ही जाता है कि जिस युग में वेदों की सृष्टि हुई थी उस समय आर्हत लोग वेद विरोधी थे और तभी से वेदविरोधी धर्म के रूप में उनका स्मरण एवं उल्लेख किया जाता रहा, क्योंकि किसी वैचारिक क्रान्ति के सन्दर्भ में ही अपने आप को पुराना मानने वाले इस प्रकार का नाम देते आये हैं। किन्तु इससे जैनधर्म की प्राचीनता पर और भी प्रकाश पड़ता है। संक्षेप में– तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के समय तक यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रचलित था। बौद्धग्रन्थों तथा अशोक के शिलालेखों में यह "निग्गंठ" के नाम से प्रसिद्ध रहा और इण्डो-ग्रीक तथा इन्डो-सीथियन के युग में "श्रमण" धर्म के नाम से देश–विदेशों में प्रचारित रहा। पुराण–काल में यह जिन या जैनधर्म के नाम से विख्यात हुआ और तब से यह इसी नाम से सुप्रसिद्ध है। जैनागम तथा शास्त्रों में इस के जिनशासन, जैनतीर्थ, स्याद्वादी, स्याद्वादवादी, अनेकान्तवादी, आर्हत और जैन आदि नाम मिलते हैं। देश के विभिन्न प्रान्तों में समय-समय पर यह भिन्न नामों से प्रचलित रहा है। जिस समय दक्षिण में भक्ति-आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, उस समय वहां पर यह भव्यधर्म के नाम से प्रसिद्ध था। पंजाब में यह "भावादास" के नाम से प्रचलित रहा।[२६] तथा "सरावग-धर्म" के नाम से आज भी राजस्थान में प्रचलित है। गुजरात में और दक्षिण में यह अलग अलग नामों से प्रचलित रहा है। और इस प्रकार आर्हत, वातवसन या वातरशन श्रमण से लेकर जिनधर्म और जैनधर्म तक की एक बृहत् तथा अत्यन्त प्राचीन परम्परा प्राप्त होती है।

---

२१ सम्बुद्धः करुणाकूर्चः सर्वदर्शी महाबलः।
विश्वबोधो धर्मकायः संगुप्तां र्हन्सुनिश्चितः॥
व्यामाभो द्वादशाख्यश्च वीतरागः सुभाषितः।
सर्वार्थसिद्धस्तु महाश्रमणः कलिशासनः॥ त्रिकाण्डशेष, १,१०–११।

२२ मुमुक्षुः श्रमणो यतिः। –अभिधानचिन्तामणि, १,७५।

२३ "नामेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार।"–श्री मद्भागवत, ५।३।२०

२४ "भगवान्ऋषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत्।" वही, ५।४।३

२५ गत्वा थ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पतिः।
जिनधर्म समास्थाय वेदबाह्यं सवेदवित्॥ मत्स्यपुराण, २४।४७

२६ डा० ज्योति प्रसाद जैनः जैनिज्म द ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन, पृ० ६२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन पुरातत्व से भी अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं जो धर्म की प्राचीनता पर प्रकाश डालते हैं। यद्यपि मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त मूर्तियों के संबंध में अभी तक निश्चय रूप से नहीं कहा जा सका है कि वे जिन हैं या शिव; किन्तु कालीबंगा के उत्खनन से यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में भी जैनधर्म का प्रचार उत्तर-पश्चिम भारत में रहा है। उपलब्ध जैन मूर्तियां ई० पू० ३०० तक प्राचीन कही जाती हैं। मौर्यकालीन कुछ-मूर्तियां पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[२७] इसी प्रकार लगभग प्रथम ई० पू० से जैन चित्रकला के स्पष्ट निदर्शन मिलने लगते हैं। पुरातन शिलालिपि में वीर नि० ८४ का सर्वप्राचीन संवत् सूचक लेख मिलता है। मथुरा के जैनलेख तो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जिनके आधार पर डा० हर्मन जेकोबी ने जैनागमों की प्राचीनता सिद्ध की है।[२८] संसार की प्राचीन लिपि एवं कला की भांति श्रमण संस्कृति एवं कला में सूक्ष्म भावों का अंकन करने के लिए प्रतीक शैली की परम्परा प्रचलित रही है। मूर्ति निर्माण में, चैत्य या मन्दिरों की रचना में, सिद्ध-यंत्रों तथा चित्रों की कला में यह प्रतीक शैली अन्तर्य रहस्यमय रूप से अभिव्यक्त हुई है। यही नहीं, जैन-साहित्य में भी यह परम्परा सुरक्षित है। यदि इसका भलीभांति अध्ययन किया जाये तो इसकी प्राचीनता के अन्य प्रमाण भी स्पष्ट रूप से मिल सकते हैं। शिला-लेखों से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर अब तीर्थङ्कर नेमिनाथ की ऐतिहासिकता भी निश्चित हो गई है। क्योंकि प्रभास-पट्टन का एक प्राचीन ताम्र-पत्र प्राप्त हुआ है जिसका अनुवाद डा० प्राणनाथ विद्यालंकार ने किया है। उससे बेबीलोन के राजा नेबुचन्दनेजर के द्वारा सौराष्ट्र के गिरिनार पर्वत पर स्थित नेमि मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। बेबीलोन के राजा नेबुचन्दजर ने प्रथम का समय ११४० ई० पू० और द्वितीय का ६०४–५६१ ई० पू० के लगभग कहा जाता है। उस राजा ने अपने देश की उस आय को जो उसे नाविकों से कर द्वारा प्राप्त होती थी, वह जूनागढ़ के गिरिनार पर्वत पर स्थित अरिष्टनेमि की पूजा के लिए प्रदान की थी।[२९] इसी प्रकार अन्य बौद्ध यात्रियों के उल्लेखों से भी जैनधर्म की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। यूनान और मिश्र के दार्शनिकों ने भी श्रमण सन्तों का उल्लेख किया है और उनका प्रभाव स्वीकार किया है।

जैनधर्म के मुख्य चार सिद्धान्त कहे जा सकते हैं—अहिंसा, आत्मा का अस्तित्व एवं पुनर्जन्म, कर्म तथा स्याद्वाद। अहिंसा एक व्यापक तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है। जैनधर्म का यह मूलभूत सिद्धान्त है—'अहिंसा परमो धर्मः, यतो धर्मस्ततो जयः"। श्रमण संस्कृति का यह प्राण-तत्व है। इसमें व्यक्ति और समाज की संजीवनी शक्ति निहित है। वस्तुतः मानव का मूल धर्म अहिंसा है। अहिंसा व्यक्ति की भीरुता, शिथिलता या समाज के भय का परिणाम न होकर मोह की अनासक्ति और सच्चरित्र एवं शील की राष्ट्रव्यापिनी शक्ति है जो प्रेम और शान्ति को जन्म देती है। जिससे करुणा तथा दया का संचार होता है। और जो समाज कल्याण के लिए अमोघ शक्ति है। इसलिए अहिंसा हमें कायर और डरपोक नहीं बनाती। वह हमें मोह और क्षुद्र स्वार्थों को जीतने के लिए प्रेरित तथा उत्साहित करती है। उसमें

---

२७ मुनि कान्तिसागर : श्रमण संस्कृति और कला १९५२, पृ० २४।

२८ वही, पृ० ८०।

२९ देखिए, "अनेकान्त" वर्ष ११, किरण १ में प्रकाशित बाबू जयभगवान, बी० ए० एडवोकेट का मोहनजोदड़ोकालीन और आधुनिक जैन संस्कृति शीर्षक लेख, प० ४८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षात्रधर्म का दर्प एवं तेज है। जैनों ने व्यवहार में ऐसी अहिंसा का सर्वथा विरोध किया है जो डर के मारे अपने या दूसरे के प्राण लेने का पाठ सिखाती हो। जैनधर्म के सभी तीर्थङ्कर क्षत्रिय एवं राजपुत्र थे। अधिकतर तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए थे। अपने जीवन में उन्होंने कई युद्ध किए थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति, खारवेल, अमोघवर्ष, चेटक, श्रेणिक, शिवकोटि तथा कलचुरि, गंग और राष्ट्रकूट वंश के अनेक राजा जैन थे। चन्द्रगुप्त, बिम्बसार, अजातशत्रु, उदयन, महापद्म, बिन्दुसार और अशोक को जैन तथा बौद्ध परम्पराएं अपना मतावलम्बी मानते हैं। जो भी हो, इससे स्पष्ट है कि ज्ञात, अज्ञात न जाने कितने सम्राट और राजा हुए जिन्होंने युद्ध और अहिंसा का सफलता से संचालन किया था।

जैन शास्त्रों में हिंसा के संकल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी—ये चार भेद किए गए हैं। ये हिंसा के स्थूल भेद हैं। इनका मूल है—प्रमाद पूर्वक कार्य न करना, सावधानी रखना।[३०] और यही आगे चल कर द्रव्य रूप और भावरूप भेदों से हिंसा मुख्य रूप से दो कोटियों में विभक्त हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपक्ष की मुख्यता को लेकर स्पष्ट रूप से कहा है कि जीव का घात हो या नहीं, यदि असावधानी से प्रवृत्ति की गई है तो निश्चय से वह हिंसा है और सावधानी से प्रवृत्ति करने वाले से यदि कदाचित् प्राणों का घात भी हो जाये तो उसे हिंसा के निमित्त का बन्ध नहीं होता।[३१] वस्तुतः अच्छे और बुरे भावों पर जीवन की नींव टिकी हुई है। जीव को जैसा अन्न और जल मिलता है वैसा ही उसका निर्माण होता है। भाव और प्रवृति जीवन में अन्न और जल की भांति पोषक तत्व हैं जिनसे धर्म की संरचना होती है, धर्म का विग्रह जन्म लेता है।

अहिंसा का सभी धर्मों में महत्व वर्णित है। भारतीय संस्कृति तो मूलतः अहिंसानिष्ठ रही है। वाल्मीकि ने भी अपनी रामायण में अहिंसा का आचरण करने वाले मुनियों को पूज्य तथा श्रेष्ठ कहा है।[३२] वस्तुतः अहिंसा की उपस्कारक श्रमण-संस्कृति थी जिसने सूक्ष्म से सूक्ष्म अहिंसा का निरूपण एवं निर्वचन किया है और समस्त धर्म रूपों को अहिंसा की व्यापक व्याख्या में समाहित कर लिया। यदि हम विभिन्न संप्रदायों एवं धर्मों का इतिहास देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि किसी न किसी रूप में सभी हिंसा

---

३० प्रमत्तयोगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा। —तत्वार्थसूत्र, ७।८

३१ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयडस्स णत्थि बन्धो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥ प्रवचनसार, ३।१७

३२ धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ वाल्मीकि रामायण, १०६।३

तथा—

अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतत् सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्ये ब्रवीन्मनुः ॥
यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ ऋग्वेद, ५।६४।३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रत्याख्यान करते रहे पर किसी न किसी रूप में सभी धर्म मानने वाले हिंसा को करते रहे और अपने प्रमाण में "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" तथा यह धर्म की हिंसा है—कह कर अपने को बचाते रहे। किन्तु जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसने किसी भी रूप में हिंसा को मान्य नहीं स्वीकार किया और उसके विभिन्न स्तरों का सांगोपांग विवेचन किया। आज भी यह जाति अहिंसानिष्ठ एवं आचार-प्रधान देखी जाती है। यथार्थ में यह तप, त्याग एवं आचार-प्रधान संस्कृति है जो अनेक आघातों को सहकर भी आज ज्यों की त्यों स्थिर है।

जैनधर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह शुद्ध रूप में आत्मा को शुद्ध, बुद्ध तथा निरंजन मानता है। परन्तु अनेक जन्मों के कर्मों से आबद्ध होने के कारण आत्मा अशुद्ध एवं मैली होने से संसार के परावर्तनों में भटक रही है। यद्यपि इसमें अनंत शक्ति और गुण विद्यमान हैं और इतनी क्षमता है कि अपनी निर्वृत्तिप्रधान क्रिया से स्वयं मुक्त हो सकती है किन्तु कर्मों के तिमिर-जाल में उलझी होने से मुक्त होने में समर्थ नहीं हो रही है। इसलिए कर्म-बन्धन से मुक्त होने का नाम ही मुक्ति है। इसके लिए किसी परमात्मा के आने की आवश्यकता नहीं है कि वह अपने स्थान से नीचे उतर कर हमारी सहायता करने के लिए यहां आये, बल्कि आत्मा में वह परम शक्ति विद्यमान है कि वह "नर से नारायण", आत्मा से परमात्मा बन सकती है। यदि उसमें यह शक्ति विद्यमान नहीं है तो संसार की कोई ऐसी शक्ति नहीं हैं जो उसे ईश्वरत्व प्रदान कर सके। उसमें स्वयं शक्ति का वह प्रकाश है तभी तो वह अपनी ज्योति को ऊर्ध्वगामी बना सकता है। इसी रूप में जैनधर्म आत्मा को स्वीकार करता है। और यह तो सद्वाद का सिद्धान्त है कि जो विद्यमान है, जिसका अस्तित्व है वह कभी अभाव-रूप नहीं हो सकता और सद्भाव का कभी विनाश नहीं होता। इसलिए कर्म-बन्धनों को काटने का अर्थ है उनसे अलग हो जाना, जड़त्व को सर्वथा छोड़ कर आत्मा के यथार्थ को, पूर्ण चेतन रूप को प्राप्त कर लेना।

अहिंसा की भांति कर्मवाद और स्याद्वाद भी जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त हैं। जैनधर्म के अनुसार कर्म एक स्वतन्त्र द्रव्य है। आत्मा के साथ मिल कर चलनशील होने पर यह विभिन्न भावों की सृष्टि करता है। यह अपनी क्रियाओं से जीव को संसक्त कर के रखता है और पूरी तरह से उस पर छा जाता है। इसलिए आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है उसमें कार्माण वर्गणाओं का योग रहता है। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया कर्मों के अनुसार सम्पादित होती रहती है। गौतम बुद्ध भी कर्मानुसार पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। कर्म अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध कहा जाता है। यह समूचे लोक में व्याप्त रहता है। जिस प्रकार बीज के दग्ध हो जाने पर फिर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार जन्म देने वाला कर्म संसार का बीज है और उसके आत्यन्तिक क्षय या दग्ध हो जाने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्म से ही आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है। इस विकृति को दूर करने के लिए जिन शासन में ज्ञान, ध्यान और तप का आचरण मुख्य बतलाया गया है। तीर्थङ्कर महावीर ने भी अहिंसा की मुख्य प्रेरक शक्ति को संयम कहा है। संयम एक आन्तरिक साधना है जो भीतरी शुद्धि पर अधिक बल देती है और संशुद्धि को प्रकट करती है।

विज्ञान की भांति कर्म का भी अपना ज्ञान-विज्ञान है जिसके अनुसार यह कर्मस्कन्ध रूप (परमाणु समूह) होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु रज के सूक्ष्मतम कणों के समान सम्पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोक में व्याप्त रहता है। और इसलिए कर्मवाद में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। कर्म ही ईश्वर के स्थान पर माना जा सकता है। यद्यपि संसार के कार्य किसी न किसी कारण से उद्भूत होते हैं पर जिनका कारण प्रतीत नहीं होता, जो विभिन्न विषयों के जनक हैं और जिनका स्पष्ट अनुभव होता है वे सब किसी अलौकिक शक्ति से उत्पन्न न होकर कर्मों से उत्सृष्ट होते हैं। संसार की विभिन्न विषमताओं का कारण कर्म है। कर्म ही मूलभूत विषमताओं के मूल में है। कर्म जन्म-जन्मान्तरों के चक्र के रूप में विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं की सृष्टि करता रहता है। और इस प्रकार जैनधर्म का कर्मवाद ईश्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है। जैनधर्म में कर्मों के विभिन्न भेदों तथा विविध अवस्थाओं का गणित के आधार पर विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन मिलता है। और कर्मों से अलग होने का उपाय तप कहा गया है। जिस समय में जिस प्रकार का तप सम्पादित हो जाता है वह अशुद्ध तथा विकृत भाव अलग हो जाता है। इसे ही पारिभाषिक शब्दावली में "निर्जरा" कहते हैं।[३३] और जहां न इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग ( मिलने वाला कष्ट ) है, न मोह है, न आश्चर्य, न निद्रा, न प्यास और न भूख ही, वहां निर्वाण होता है।[३४] वास्तव में निर्वाण वही स्थिति है, जिसमें सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती, केवल अतीन्द्रिय निर्बाध अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है।

स्याद्वाद जैनों का दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमें विभिन्न दृष्टिकोणों से पदार्थ की सत्यता का व्याख्यान किया जाता है। वस्तुतः जड़ और चेतन सभी में अनेक धर्म विद्यमान हैं। उन सब का एक साथ कथन नहीं किया जा सकता। विवक्षा के अनुसार एक समय में किसी एक की मुख्यता लेकर कथन किया जाता है। उसको दार्शनिक शब्दावली में "कथंचि अपेक्षा" से कहा जाता है जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। अपेक्षावाद का यह सिद्धान्त दार्शनिक मतवादों के आग्रह को शिथिल करता है और जीवन का यथार्थ दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे सामने प्रस्तुत करता है। अपेक्षाओं के आधार पर किया जाने वाला कथन किन्हीं दृष्टिकोणों (नयों) की अपेक्षा रखता है। जैनागमों में सात दृष्टिकोणों को सात भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है। जो इन दृष्टिकोणों को समझे बिना स्याद्वाद को समझने का प्रयत्न करते हैं उन्हें यह संशयवाद जान पड़ता है। यथार्थ में स्याद्वाद संशयवाद न हो कर समन्वयवाद कहा जा सकता है जिसमें विभिन्न धर्मों को दृष्टियों को कथंचित् रूप में, किसी अपेक्षा से व्यवहार में या निश्चय में सत्य स्वीकार किया गया है। स्वयं तीर्थङ्कर महावीर स्वामी वैर-विरोध को हिंसा मानते थे। वे सत्य को सत्य के रूप में ही देखना और कहना चाहते थे। इसलिए उन्होंने वस्त्रों का त्याग किया। मनुष्य की वास्तविक अवस्था को प्राप्त कर आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की और सब में समताभाव का प्रचार किया। यह वैर-विरोधमूलक समन्वयवादिनी वह दृष्टि थी जो अनेक केन्द्र विन्दुओं पर एक वस्तु का विचार कर उसकी वास्तविकता को परखती थी। क्योंकि सत्य अखण्ड होता है। शब्दों के सीमित घेरे में उसके अनन्त गुणों की व्याख्या संभव नहीं है। किन्तु उसके केन्द्र में व्याप्त मुख्य बिन्दुओं

---

३३ जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा॥ द्रव्यसंग्रह, ३६

३४ णवि इंदियउवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥ नियमसार, १८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अलग-अलग तथा समाहार रूप में समझ कर उसकी अखण्डता का बोध किया जा सकता है । जब तक वस्तु के अनन्त तथा विभिन्न अवयवों का एवं उसके रूपों का ज्ञान नहीं होता, तब तक न तो विश्लेषण ही किया जा सकता है और न उसका सामासिक कथन ही किया जा सकता है । इस प्रकार स्याद्वाद सत्य तक पहुँचने की वह पद्धति है जो जीवन को आत्मा के आन्तरिक व्यापारों से जोड़ती है और जिसमें बाहरी तथा भीतरी जीवन की एक प्रणाली समाहित है जो विविध दृष्टियों को एक केन्द्र में स्थापित कर वस्तु की सत्यता का निर्वचन करती है । सच यह है कि वस्तु को किसी धर्म विशेष के साथ मानना ऐकान्तिक है । और इस एकान्त का परिहार अनेकान्त के बिना सम्भव नहीं जान पड़ता । विभिन्न नयों एवं दृष्टिकोणों से एक ही वस्तु को समझने पर उसकी सचाई समझ में आती है । आचार्य समन्तभद्र ने "आत्म-मीमांसा" में तो यहां तक कह दिया है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय वस्तु को सिद्ध करने वाले होते हैं । जीवन का यह दृष्टिकोण सापेक्षिक एकान्तवाद या अनेकान्त-वाद से प्राप्त हो सकता है जो जैनधर्म के मूलभूत रहस्य को प्रकट करता है ।

तीर्थङ्कर महावीर के लिए स्याद्वाद कोई नया सिद्धान्त नहीं था । यह तो बहुत पहले से ही चला आ रहा था । वैदिक युग में विभिन्न दार्शनिक मतवाद थे । ऋग्वेद से पता लगता है कि साध्यों का मूल सिद्धान्त सद्वाद, असद्वाद, सदासद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अंभिवाद, आदर्शवाद, अहोरात्रवाद और संशयवाद इन दस सिद्धान्तों पर आधारित था ।[३५] सदासद्वाद का सिद्धान्त बहुत ही व्यापक रहा है । दार्शनिक जगत् में किसी ने सत् को स्वीकार किया और किसी ने असत् को । ऋग्वेद के ऋषि "एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति" का उद्घोष करते हैं । वस्तुतः विश्व की व्याख्या करने के लिए विविध मतवादों की दार्शनिक भूमिका पर सृष्टि हुई जिनका समाहार स्याद्वाद की सप्त भंगियों में लक्षित होता है जिसे 'सप्तभंगी स्याद्वाद" कहा जाता है ।

इस प्रकार वैदिक काल से और उसके भी पहले से जैनधर्म अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित चला आ रहा है । यह आर्यों की यज्ञपरायण संस्कृति से पृथक, पर आर्य संस्कृति की परम्परा को ही प्रदर्शित करती है जिसमें भारतीय आचार–विचार तथा गरिमा के उत्कृष्ट रूपों का समाहार मिलता है । वास्तव में यह धर्म और संस्कृति तपःपूत अहिंसा मूलक है जो अपनी विशिष्टताओं के कारण देश-विदेशों में समादृत रहा है और जिसमें जीवन की निश्छल एवं शान्त प्रकृति के दर्शन उपलब्ध होते हैं ।

---

३५ देवदत्त शास्त्री : चिन्तन के नये चरण, १९६० पृ० ९८ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org